१६

उत्सर्ग और अपवाद : दोनों ही मार्ग

जैन-साधना :

जैन संस्कृति की साधना, आत्म-भाव की साधना है, मनोविकारों के विजय की साधना है। वीतराग प्ररूपित धर्म में साधना का शुद्ध लक्ष्य है—मनोगत विकारों को पराजित कर सर्वतोभावेन आत्मविजय की प्रतिष्ठा। अतएव जैनधर्म की साधना का आदिकाल से यही महाघोष रहा है कि एक (आत्मा का अशुद्ध भाव) के जीत लेने पर पाँच—क्रोधादि चार कषाय और मन जीत लिए गए, और इन पाँचों के जीत लिए जाने पर दश (मन, चार कषाय और पाँच इन्द्रिय) जीत लिए गए। इस प्रकार दश शत्रुओं को जीत कर मैंने, जीवन के समस्त शत्रुओं को सदा के लिए जीत लिया है।[1]

जैन-साधना का संविधान :

'जैन-शब्द 'जिन' शब्द से बना है। जो भी जिन का उपासक है, वह जैन है। जिन के उपासक का अर्थ है—जिनत्व-भाव का साधक। राग-द्वेषादि विकारों को सर्वथा जीत लेना जिनत्व है। अतः जो राग-द्वेष रूप विकारों को जीतने के लिए प्रयत्नशील है, कुछ को जीत चुका है, और कुछ को जीत रहा है, अर्थात् जो निरन्तर शुद्ध जिनत्व की ओर गतिशील है, वह जैन है।

अस्तु निजत्व में जिनत्व की प्रतिष्ठा करना ही जैन-धर्म है, जैन-साधना है। यही कारण है कि जैन-धर्म बाह्य विधि-विधानों एवं क्रिया-काण्डों पर आग्रह रखता हुआ भी, आग्रह नहीं रखता है, अर्थात् दुराग्रह नहीं रखता है। साधना के नियमोपनियमों का आग्रह रखना एक बात है, और दुराग्रह रखना दूसरी बात है, यह ध्यान में रखने जैसा है। साधना के लिए विधि-निषेध आवश्यक हैं, अतीव आवश्यक हैं। उनके बिना साधना का कुछ अर्थ नहीं। फिर भी वे गौण हैं, मुख्य नहीं। मुख्य है—समाधि-भाव, समभाव, आत्मा की शुद्धि। अन्तर्मन शान्त रहे, कषायभाव का शमन हो, चंचलता—उद्विग्नता जैसा किसी प्रकार का क्षोभ न हो, सहज शुद्ध शान्ति एवं समाधि का महासागर जीवन के कण-कण में लहराता रहे, फिर भले ही वह किसी भी तरह हो, किसी भी साधन से हो,[2] यह है जैन साधना का अजर-अमर संविधान। इसी संविधान की छाया में जैन-साधना के यथा देश-काल विभिन्न रूप अतीत में बदलते रहे हैं, वर्तमान में बदल रहे हैं और भविष्य में बदलते रहेंगे। इसके लिए जैन तीर्थंकरों का शासन-भेद ध्यान में रखा जा सकता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर एककार्य-प्रपन्न थे, एक ही लक्ष्य रख रहे थे, फिर भी दोनों में विशेष विभेद था। दोनों ही महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित साधना का अन्तःप्राण बन्धन-मुक्ति एक था, किन्तु बाहर में चातुर्याम और पंच

---

१. एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्व-सत्तू जिणामहं॥
—उत्तराध्ययन २३, ३६

२. दोसा जेण निरुंभंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व॥
—निशीथ भाष्य गा० ५२५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा के रूप में धर्म-भेद तथा अचेलक और सचेलक के रूप में लिंगभेद था, यह इतिहास का एक परम तथ्य है।[3]

साधना : एक सरिता :

जैन-धर्म की साधना विधिवाद और निषेधवाद के एकान्त अतिरेक का परित्याग कर दोनों के मध्य में से होकर बहने वाली सरिता है। सरिता को अपने प्रवाह के लिए दोनों कूलों के सम्बन्धातिरेक से बचकर यथावसर एवं यथास्थान दोनों का यथोचित स्पर्श करते हुए मध्य में प्रवहमान रहना आवश्यक है। किसी एक कूल की ओर ही सतत बहती रहने वाली सरिता न कभी हुई है, न है, और न कभी होगी। साधना की सरिता का भी यही स्वरूप है। एक ओर विधिवाद का तट है, तो दूसरी ओर निषेधवाद का। दोनों के मध्य में से बहती है, साधना की अमृत सरिता। साधना की सरिता के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जहाँ दोनों का स्वीकार आवश्यक है, वहाँ दोनों के अतिरेक का परिहार भी आवश्यक है। विधिवाद और निषेधवाद की इति से बचकर यथोचित विधि-निषेध का स्पर्शकर समिति-रूप में बहने वाली साधना की सरिता ही अन्ततः अपने अजर-अमर अनन्त साध्य में विलीन हो सकती है।

उत्सर्ग और अपवाद :

साधना की सीमा में प्रवेश पाते ही साधना के दो अंगों पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है—उत्सर्ग तथा अपवाद। ये दोनों अंग साधना के प्राण हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाने पर साधना अधूरी है, विकृत है, एकांगी है, अकान्त है। जीवन में एकान्त कभी कल्याणकर नहीं हो सकता। क्योंकि वीतराग-देव के अक्षुण्ण पथ में एकान्त मिथ्या है, अहित है, अशुभंकर-है। मनुष्य द्विपद प्राणी है, अतः वह अपनी यात्रा दोनों पदों से ही भली-भाँति कर सकता है। एक पद का मनुष्य लंगड़ा होता है। ठीक, साधना भी अपने दो पदों से ही सम्यक् प्रकार से गति कर सकती है। उत्सर्ग और अपवाद साधना के दो चरण हैं। इनमें से एक चरण का भी अभाव, यह सूचित करेगा कि साधना पूरी नहीं, अधूरी है। साधक के जीवन-विकास के लिए उत्सर्ग और अपवाद आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य भी है। साधक की साधना के महापथ पर जीवन-रथ को गतिशील एवं विकासोन्मुख रखने के लिए—उत्सर्ग और अपवाद-रूप दोनों चक्र सशक्त तथा सक्रिय रहने चाहएँ—तभी साधक अपनी साधना द्वारा अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि कर सकता है।

उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा :

उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा बहुत गंभीर एवं विस्तृत है। अतः सर्वप्रथम लंबी चर्चा में न जाकर हम प्राचीन आचार्यों की धारणा के अनुसार संक्षेप में उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा पर विचार कर लेना चाहते हैं।

आचार्य संघदास, 'उत्' उपसर्ग का अर्थ 'उद्यत' करते हैं और 'सर्ग' का 'विहार'। अस्तु जो उद्यत विहार चर्या है, वह उत्सर्ग है। उत्सर्ग का प्रतिपक्ष अपवाद है। क्योंकि अपवाद, दुर्भिक्षादि में उत्सर्ग से प्रच्युत हुए साधक को ज्ञानादि-अवलम्बनपूर्वक धारण करता है। अर्थात् उत्सर्ग में रहते हुए साधक यदि ज्ञानादि गुणों का संरक्षण नहीं कर पाता है, तो अपवाद सेवन के द्वारा उनका संरक्षण कर सकता है।[4]

---

३. उत्तराध्ययन, २३वाँ अध्ययन, गाथा २५ से ३२, केशीगौतम संवाद।

४. उज्जयस्सग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो।

उस्सग्गा विनिवतिय, धरेइ सालबमववाओ ॥३१६॥—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका

उद्यतः सर्गः—विहार उत्सर्गः। तस्य च उत्सर्गस्य प्रतिपक्षोऽपवादः। कथम् ? इति चेद् अतआह—उत्सर्गद् अध्वाऽवमौदर्यादिषु 'विनिपतितं' प्रच्युत ज्ञानादिसालम्बमपवादो धारयति ॥३१६॥

—आचार्य मलमगिरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि "द्रव्य क्षेत्र, काल आदि की अनुकूलता से युक्त समर्थ साधक के द्वारा किया जाने वाला कल्पनीय (शुद्ध) अन्नपानगवेषणादि-रूप उचित अनुष्ठान, उत्सर्ग है। और द्रव्यादि की अनुकूलता से रहित का यतनापूर्वक तथाविध अकल्प्य-सेवनरूप उचित्त अनुष्ठान, अपवाद है।"[५]

आचार्य मुनिचन्द्र सूरि, सामान्य रूप से प्रतिपादित विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष रूप से प्रतिपादित विधि को अपवाद। अपने उक्त कथन का आगे चल कर वे और भी स्पष्टीकरण करते हैं कि समर्थ साधक के द्वारा संयमरक्षा के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, वह उत्सर्ग है। और असमर्थ साधक के द्वारा संयम की रक्षा के लिए ही जो बाहर में उत्सर्ग से विपरीत-सा प्रतीत होने वाला अनुष्ठान किया जाता है, वह अपवाद है। दोनों ही पक्षों का विपर्यासरूप से अनुष्ठान करना, न उत्सर्ग है और न अपवाद, अपितु संसाराभिनन्दी प्राणियों की दुश्चेष्टा मात्र है।[६]

आचार्य मल्लिषेण उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण करते हैं—"सामान्य रूप से संयम की रक्षा के लिए नवकोटि-विशुद्ध[७] आहार ग्रहण करना, उत्सर्ग है। परन्तु यदि कोई मुनि तथाविध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सम्बन्धी आपत्तियों से ग्रस्त हो जाता है, और उस समय गत्यन्तर न होने से उचित यतना के साथ अनेषणीय आदि आहार ग्रहण करता है, यह अपवाद है। किन्तु, अपवाद भी उत्सर्ग के समान संयम की रक्षा के लिए ही होता है।"[८]

एक अन्य आचार्य कहते हैं—"जीवन में नियमोपनियमों की जो सर्वसामान्य विधि है, वह उत्सर्ग है। और, जो विशेष विधि है, वह अपवाद है।"[९]

किं बहुना, सभी आचार्यों का अभिप्राय एक ही है कि सामान्य उत्सर्ग है, और विशेष अपवाद है। लौकिक उदाहरण के रूप में समझिए कि प्रतिदिन भोजन करना, यह जीवन की सामान्य पद्धति है। भोजन के बिना जीवन टिक नहीं सकता है, जीवन की रक्षा के लिए उत्सर्गतः भोजन आवश्यक है। परन्तु, अजीर्ण आदि की स्थिति में भोजन का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। किन्हीं विशेष रोगादि की स्थितियों में भोजन का त्याग भी जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है। अर्थात् एक प्रकार से भोजन का परित्याग ही जीवन हो जाता है। यह भोजन सम्बन्धी अपवाद है। इसी प्रकार अमुक पद्धति का भोजन सामान्यतः ठीक रहता है, यह भोजन का उत्सर्ग है। परन्तु, उसी पद्धति का भोजन कभी किसी विशेष स्थिति में ठीक नहीं भी रहता है, यह भोजन का अपवाद है।

साधना के क्षेत्र में भी उत्सर्ग और अपवाद का यही क्रम है। उत्सर्गतः प्रतिदिन की साधना में जो नियम संयम की रक्षा के लिए होते हैं, वे विशेषतः संकटकालीन अपवाद स्थिति

---

५. दव्वादिएहिं जुत्तस्सुस्सग्गो चदुचियं अणुट्ठाणं।
रहियस्स तमववाओ, उचियं चियरस्स न उ तस्स॥—उपदेश पद, गा० ७८४

६. सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः। विशेषोक्तस्त्वपवादः। द्रव्यादियुक्तस्य यत्तदौपिचित्येन अनुष्ठा स उत्सर्गः तद्रहितस्य पुनस्तदौचित्येनैव च यदनुष्ठानं सोऽपवादः। यच्चैतयोः पक्षयोर्विपर्यासेन अनुष्ठानं प्रवर्तते, न स उत्सर्गोऽपवादो वा, किन्तु संसाराभिनन्दिसत्वचेष्टितमिति।

—उपदेशपद-सुखसम्बोधिनी, गा० ७८१-७८४

७. आहार के लिए स्वयं हिंसा न करना, न करवाना, न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करना।
आहार आदि स्वयं न पकाना, न पकवाना, न पकाने वालों का अनुमोदन करना।
आहार आदि स्वयं न खरीदना, न दूसरों से खरीदवाना, न खरीदने वालों का अनुमोदन करना।

—स्थानाङ्ग सूत्र ९, ३, ६८१

८. यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः। तथाविध द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावेपंचकादियतनया अनेषणीयादिग्रहणमपवादः। सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव। —स्याद्वाद मञ्जरी, कारिका ११

९. सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः, विशेषोक्तो विधिरपवादः।—दर्शन शुद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में संयम की रक्षा के लिए नहीं भी हो सकते हैं। अतः उस स्थिति में गृहीत नियमों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है, और वह परिवर्तन भले ही बाहर से संयम के विपरीत ही प्रतिभासित होता हो, किन्तु अंदर में संयम की सुरक्षा के लिए ही होता है।

एकान्त नहीं, अनेकान्त :

कुछेक विचारक जीवन में उत्सर्ग को ही पकड़ कर चलना चाहते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्सर्ग की एकान्त साधना पर ही खर्च कर देने पर तुले हुए हैं, फलतः जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में (एकांगी दृष्टि में) अपवाद धर्म नहीं, अपितु एक महत्तर पाप है। इस प्रकार के विचारक साधना के क्षेत्र में उस कानी हथिनी के समान हैं, जो चलते समय मार्ग के एक ओर ही देख पाती है। दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं, जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद को पकड़ कर ही चलना श्रेय समझते हैं। जीवन-पथ में वे कदम-कदम पर अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं। जैसे शिशु, बिना किसी सहारे के चल ही नहीं सकता। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय कोटि में नहीं आ सकते। जैन-धर्म की साधना एकान्त की नहीं, अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।

जैन-संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य हरिभद्र ने आचार्य संघदास गणी की भाषा में एकान्त पक्ष को लेकर चलने वाले साधकों को संबोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—"भगवान् तीर्थंकर देवों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न किसी बात के लिए एकान्त निषेध ही किया है। भगवान् तीर्थंकर की एक ही आज्ञा है, एक ही आदेश है, कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो, उसमें सत्यभूत हो कर रहो। उसे वफादारी के साथ करते रहो।"[१०]

आचार्य ने जीवन का महान् रहस्य खोल कर रख दिया है। साधक का जीवन न एकान्त निषेध पर चल सकता है, और न एकान्त विधान पर ही। यथावसर कभी कुछ लेकर और कभी कुछ छोड़कर ही वह अपना विकास कर सकता है। एकान्त का परित्याग करके ही वह अपनी साधना को निर्दोष बना सकता है।

साधक का जीवन एक प्रवहण-शील तत्त्व है। उसे बाँधकर रखना भूल होगी। नदी के सतत प्रवहणशील वेग को किसी क्षुद्र गर्त में बाँधकर रख छोड़ने का अर्थ होगा, उसमें दुर्गन्ध पैदा करना तथा उसकी सहज स्वच्छता एवं पावनता को नष्ट कर डालना। जीवन-वेग को एकान्त उत्सर्ग में बन्द करना, यह भी भूल है और उसे एकान्त अपवाद में कैद करना, यह भी चूक है। जीवन की गति को किसी भी एकान्त पक्ष में बाँधकर रखना, हितकर नहीं। जीवन को बाँधकर रखने में क्या हानि है? बाँधकर रखने में, संयत करके रखने में तो कोई हानि नहीं है। परन्तु, एकान्त विधान और एकान्त निषेध में बाँध रखने में जो हानि है, वह एक भयंकर हानि है। यह एक प्रकार से साधना का पक्षाघात है। जिस प्रकार पक्षाघातरोग में जीवन सक्रिय नहीं रहता, उसमें गति नहीं रहती, उसी प्रकार विधि-निषेध के पक्षाघातरूप एकान्त आग्रह से भी साधना की सक्रियता नष्ट हो जाती है, उसमें यथोचित गति एवं प्रगति का अभाव हो जाता है।

विधि-निषेध अपने आप में एकान्त नहीं हैं। यथापरिस्थिति विधि निषेध हो सकता है और निषेध विधि। जीवन में इस ओर नियत-जैसा कुछ नहीं है। आचार्य उमास्वाति प्रशमरति प्रकरण में स्पष्टतः लिखते हैं—

"भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र तथा औषध आदि कोई भी वस्तु शुद्ध-कल्प्य-ग्राह्य होने पर भी अकल्प्य-अशुद्ध-अग्राह्य हो जाती है, और अकल्प्य होने पर भी कल्प्य हो जाती है।"[११]

---

१०. न वि किंचि अणुण्णातं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
तित्थगराणं, आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं॥—उपदेश पद ७७९

११. किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात् स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्,
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा॥१४५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"देश, काल, क्षेत्र, पुरुष, अवस्था, उपधात और शुद्ध भावों की समीक्षा के द्वारा ही वस्तु कल्प्य-ग्राह्य होती है। कोई भी वस्तु सर्वथा एकान्त रूप से कल्प्य नहीं होती।"[१२]

वस्तु अपने-आप में न अच्छी है, न बुरी है। व्यक्ति-भेद से वह अच्छी या बुरी हो जाती है। आकाश में चन्द्रमा के उदय होने पर चक्रवाक-दम्पती को शोक होता है, चकोर को हर्ष। इनमें चन्द्रमा का क्या है? वह चक्रवाक और चकोर के लिए अपनी स्थिति में कोई भिन्न-भिन्न परिवर्तन नहीं करता है। चक्रवाक और चकोर की अपनी मनःस्थिति भिन्न है, अतः उसके अनुसार चन्द्र अच्छा या बुरा प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार साधक भी विभिन्न स्थिति में रहते हैं, उनका स्तर भी देश, काल आदि की विभिन्नता में विभिन्न स्तरों पर ऊँचा-नीचा होता रहता है। अतएव एक ही वस्तु एक साधक के लिए निषिद्ध, अग्राह्य होती है, तो दूसरे के लिए उनकी अपनी स्थिति में ग्राह्य भी हो सकती है। परिस्थिति और तदनुसार होने वाली भावना ही मुख्य है। **"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशि।"** जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। लोक-भाषा में भी किवदन्ती है—**"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।"** अर्थात् सत्य एक ही है, वह विभिन्न देश-काल में विभिन्न मनोभावों के अनुसार विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता रहता है।

निशीथ सूत्र के भाष्यकार इस सम्बन्ध में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। वे समस्त उत्सर्गों और अपवादों, विधि और निषेधों, की शास्त्रीय सीमाओं की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जो द्रव्य निषिद्ध किए गए हैं, वे सब असमर्थ साधक के लिए अपवाद स्थिति में कारण विशेष को ध्यान में रखते हुए ग्राह्य हो जाते हैं।"[१३]

आचार्य जिनदास ने निशीथ चूर्णि में उपर्युक्त भाष्य पर विवरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

जो उत्सर्ग में प्रतिषिद्ध हैं, वे सब-के-सब कारण उत्पन्न होने पर कल्पनीय-ग्राह्य हो जाते हैं। ऐसा करने में किसी प्रकार का भी दोष नहीं है।[१४]

उत्सर्ग और अपवाद का यह विचार ऐसा नहीं कि विचार जगत् के किसी एक कोने में ही पड़ा रहा हो, इधर-उधर न फैला हो। जैन-साहित्य में सुदूर अतीत से लेकर बहुत आगे तक उत्सर्ग और अपवाद पर चर्चा होती रही, और वह मतभेद की दिशा में न जाकर पूर्व-निर्धारित एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ती रही। आचार्य जिनेश्वर अपने युग के एक प्रमुख क्रिया-काण्डी आचार्य हुए हैं। परन्तु, उन्होंने भी शास्त्रीय विधि-निषेधों के सम्बन्ध में एकान्त का आग्रह नहीं रखा। आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण पर टीका करते हुए वे चरक संहिता का एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

"देश, काल और रोगादि के कारण मानव-जीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ जाती है कि जिस में अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य हो जाता है। अर्थात् जो विधान है, वह निषेध कोटि में चला जाता है, और जो निषेध है, वह विधान कोटि में आ पहुँचता है।"[१५]

उत्सर्ग और अपवाद की एकार्थ-साधनता :

प्रस्तुत चर्चा में यह बात विशेषरूप से ध्यान में रखने जैसी है कि उत्सर्ग और अपवाद

---

१२. देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान्,
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥१४६॥—प्रशमरति

१३. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति ॥—निशीथ भाष्य, ५२४५

१४. जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि, उप्पण्णे कारणे सव्वाणि वि ताणि कप्पंति।
ण दोसो...... ॥ —निशीथ चूर्णि, ५२४५

१५. उत्पद्यते ही साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यमकार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥—अष्टकप्रकरण, २७, ५ टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों एकार्थ-साधक होते हैं, अर्थात् दोनों का लक्ष्य एक होता है, दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं, साधक होते हैं, बाधक और घातक नहीं। दोनों के सुमेल से ही, एकार्थ-साधकत्व से ही, साधक का साधना-पथ प्रशस्त हो सकता है।[16] उत्सर्ग और अपवाद यदि परस्पर निरपेक्ष हों, अन्यार्थक हों, एक ही प्रयोजन को सिद्ध न करते हों, तो वे शास्त्र-भाषा के अनुसार उत्सर्ग और अपवाद ही नहीं हो सकते। शास्त्रकार ने दोनों को मार्ग कहा है। और, मार्ग वे ही होते हैं, जो एक ही निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर जाते हों, भले ही घूम-फिर कर जाएँ। जो विभिन्न लक्ष्यों की ओर जाते हों, वे एक लक्ष्य पर पहुँचने की भावना रखने वाले यात्रियों के लिए मार्ग न होकर, कुमार्ग ही होते हैं। साधना के क्षेत्र में उत्सर्ग भी मार्ग है, और अपवाद भी मार्ग है, दोनों ही साधक को मुक्ति की ओर ले जाते हैं, दोनों ही संयम की रक्षा के लिए होते हैं।

एक ही रोग में एक व्यक्ति के लिए वैद्य किसी एक खाद्य वस्तु को अपथ्य कह कर निषेध करता है, तो दूसरे व्यक्ति के लिए देश, काल और प्रकृति आदि की विशेष स्थिति के कारण उसी निषिद्ध वस्तु का विधान भी करता है। परन्तु, इस विधि और निषेध का लक्ष्य एक ही है—रोग का उपशमन, रोग का उन्मूलन। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय उदाहरण के लिए आयुर्वेदोक्त विधान है कि "सामान्यतः ज्वर रोग में लंघन (भोजन का परित्याग) हितावह एवं स्वास्थ्य के अनुकूल रहता है, परन्तु वात, श्रम, क्रोध, शोक और कामादि से उत्पन्न ज्वर में लंघन से हानि ही होती है।"[17] इस प्रकार एक स्थान पर भोजन का त्याग अमृत है, तो दूसरे स्थान पर भोजन का अत्याग अमृत है। दोनों का लक्ष्य एक ही है, भिन्न नहीं।

उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी यही बात है। दोनों का लक्ष्य एक ही है—जीवन की संशुद्धि, आध्यात्मिक पवित्रता, संयम की रक्षा, ज्ञानादि सद्गुणों की वृद्धि। उत्सर्ग अपवाद का पोषक होता है और अपवाद उत्सर्ग का। उत्सर्ग मार्ग पर चलना, यह जीवन की सामान्य पद्धति है, जैसे कि सीधे राजमार्ग पर चलने वाला यात्री कभी प्रतिरोध-विशेष के कारण राजमार्ग का परित्याग कर समीप की पगडंडी भी पकड़ लेता है, परन्तु कुछ दूर चलने के बाद अनुकूलता होते ही पुनः उसी राजमार्ग पर लौट आता है। यही बात उत्सर्ग से अपवाद और अपवाद से उत्सर्ग के सम्बन्ध में लागू पड़ती है। दोनों का लक्ष्य गति है, अगति नहीं। फलतः दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग या कुमार्ग नहीं। दोनों के यथोक्त सुमेल से ही साधक की साधना शुद्ध एवं परिपुष्ट होती है।

उत्सर्ग और अपवाद कब और कब तक?

प्रश्न किया जा सकता है कि साधक कब उत्सर्ग मार्ग से गमन करे और कब अपवाद मार्ग से? प्रश्न वस्तुतः बड़े ही महत्त्व का है। उक्त प्रश्न पर पहले भी यथाप्रसंग कुछ-न-कुछ लिखा गया ही है, किन्तु वह संक्षेप भाषा में है। संभव है, साधारण पाठक उस पर से कोई स्पष्ट धारणा न बना सकें। अतः हम यहाँ कुछ विस्तृत चर्चा कर लेना चाहते हैं।

उत्सर्ग साधना-पथ की सामान्य विधि है, अतः उस पर साधक को सतत चलना है। उत्सर्ग छोड़ा जा सकता है, किन्तु वह यों ही अकारण नहीं, बिना किसी विशेष परिस्थिति के नहीं। और, वह भी सदा के लिए नहीं। जो साधक अकारण ही उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देता है, अथवा किसी अपुष्ट (नगण्य) कारण की आड में उसे छोड़ देता है, वह साधक

---

१६. नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, ११वीं कारिका

यमर्थमेवाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते, तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेन एकार्थसाधनविषयत्वात्।

—स्याद्वादमञ्जरी, कारिका ११

१७. कालाविरोधिनिर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम्।
ऋतेऽनिल-श्रम-क्रोध-शोक-कामकृतज्वरात्॥—स्याद्वादमञ्जरी (उद्धृत) का० ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईमानदार साधक नहीं है। वह भगवदाज्ञा का आराधक नहीं, अपितु विराधक है। जो व्यक्ति अकारण ही औषधि का सेवन करता है, अथवा रोग की समाप्ति हो जाने पर भी रोगी होने का नाटक खेलता रहता है, वह मक्कार है, कर्तव्य-भ्रष्ट है। इस प्रकार के अकर्मण्य व्यक्ति अपने आप भी विनष्ट होते हैं और समाज को भी कलंकित करते हैं। यही दशा उन साधकों की है, जो बात-बात पर उत्सर्ग मार्ग का परित्याग करते हैं, अकारण ही अपवाद का सेवन करते हैं और एक बार कारणवश अपवाद में आने के पश्चात् कारण की समाप्ति हो जाने पर भी वहीं डटे रहते हैं। इस प्रकार के साधक स्वयं तो पथ-भ्रष्ट होते ही हैं, किंतु समाज में भी एक गलत आदर्श उपस्थित करते हैं। उक्त साधकों का कोई मार्ग नहीं होता, न उत्सर्ग और न अपवाद। अपनी जघन्य वासना या दुर्बलता की पूर्ति के फेर में वे शुद्ध अपवाद मार्ग को भी बदनाम करते हैं।

अपवाद मार्ग भी एक विशेष मार्ग है। वह भी साधक को मोक्ष की ओर ही ले जाता है, संसार की ओर नहीं। जिस प्रकार उत्सर्ग संयम मार्ग है, उसी प्रकार अपवाद भी संयम मार्ग है। किन्तु, वह अपवाद वस्तुतः अपवाद होना चाहिए। अपवाद के पवित्र वेष में कहीं भोगाकांक्षा चकमा न दे जाए, इसके लिए साधक को सतत सजग एवं सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। साधक के सम्मुख वस्तुतः कोई विकट परिस्थिति हो, दूसरा कोई सरल मार्ग सूझ ही न पड़ता हो, फलस्वरूप अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो, तभी अपवाद का सेवन धर्म होता है। और ज्योंही समागत तूफानी वातावरण साफ हो जाए, स्थिति की विकटता न रहे, त्योंही अपवाद से उत्सर्ग मार्ग पर पुनः आरूढ़ हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में क्षणभर का विलम्ब भी घातक हो सकता है।

और, एक बात यह भी है कि, जितना आवश्यक हो, उतना ही अपवाद का सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि चलो, जब यह कर लिया, तो अब इसमें भी क्या है? यह भी कर लें। जीवन को निरन्तर एक अपवाद से दूसरे अपवाद पर शिथिल भाव से लुढ़काते जाना, अपवाद नहीं है। जिन लोगों को मर्यादा का भान नहीं है, अपवाद की मात्रा एवं सीमा का परिज्ञान नहीं है, उनका अपवाद के द्वारा उत्थान नहीं, अपितु शतमुख पतन होता है—
"ववेक-भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।"

उत्सर्ग और अपवाद पर एक बहुत ही सुन्दर पौराणिक गाथा है। उस पर से सहज ही समझा जा सकता है, कि उत्सर्ग और अपवाद की अपनी क्या सीमाएँ हैं? और, उनका सूक्ष्म विश्लेषण किस प्रकार ईमानदारी से करना चाहिए?

एक बार द्वादश वर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। लोग भूखों मरने लगे, सर्वत्र हाहाकार मच गया। एक विद्वान् ऋषि भी भूख से संत्रस्त इधर-उधर अन्न के लिए भटक रहे थे। उन्होंने देखा कि राजा के कुछ हस्तिपक (पीलवान) बैठे हैं, बीच में अन्न का ढ़ेर है, सब उसी में से एक साथ ले ले कर खा रहे हैं। पास ही जल-पात्र रखा है, प्यास लगने पर बीच-बीच में सब उसी में मुँह लगा कर जल पी लेते हैं।

ऋषि ने पीलवानों से अन्न की याचना की। पीलवानों ने कहा—"महाराज, क्या दें? अन्न तो जूठा है!"

ऋषि ने कहा—"कोई हर्ज नहीं। जूठा है तो क्या है, आखिर पेट तो भरना ही है। आपत्ति काल में कैसी मर्यादा? "आपत्ति काले मर्यादा नास्ति।"

ऋषि ने जूठा अन्न ले लिया, एवं एक ओर वहीं बैठ कर खा भी लिया। जब चलने लगे, तो पीलवानों ने कहा—"महाराज, जल भी पी जाइए।" इस पर ऋषि ने कहा—"जल जूठा है, मैं नहीं पी सकता।"

इतना सुनना था कि सब-के-सब पीलवान ठहाका मारकर हँस पड़े। कहने लगे—"महाराज! अन्न पेट में पहुंचते ही, मालूम होता है, बुद्धि लौट आई है। भला, आपने जो अन्न खाया है, क्या वह जूठा नहीं था? अब पानी पीने में जूठे-सुच्चे का विचार किस आधार पर कर रहे हो?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषि ने शान्तभाव से कहा—"बन्धुओं, तुम्हारा सोचना ठीक है। परन्तु, मेरी एक मर्यादा है। अन्न अन्यत्र मिल नहीं रहा था और इधर मैं भूख से इतना अधिक व्याकुल था कि प्राण कंठ में आ लगे थे और अधिक सहन करने की क्षमता समाप्त हो चुकी थी। अतः मैंने जूठा अन्न ही अपवाद की स्थिति में स्वीकार कर लिया। अब रहा जल का प्रश्न? वह तो मुझे मेरी मर्यादा के अनुसार अन्यत्र शुद्ध (सुच्चा) मिल सकता है। अतः मैं व्यर्थ ही जूठा जल क्यों पीऊँ?"

उत्सर्ग और अपवाद कब और किस सीमा तक? इस प्रश्न का कुछ-कुछ समाधान ऊपर के कथानक से हो जाता है। संक्षेप में—जब तक चला जा सकता है, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना चाहिए। और, जबकि चलना सर्वथा दुस्तर हो जाए, दूसरा कोई भी इधर-उधर बचाव का मार्ग न रहे, तब अपवाद मार्ग पर उतर आना चाहिए। और, ज्योंही स्थिति सुधर जाए, पुनः तत्क्षण उत्सर्ग मार्ग पर लौट आना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद के अधिकारी :

उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है, अतः उस पर हर किसी साधक को सतत चलते रहना है।[१८] गीतार्थ को भी चलना है और अगीतार्थ को भी। बालक को भी चलना है और तरुण तथा वृद्ध को भी। स्त्री को भी चलना है और पुरुष को भी। यहाँ कौन चले और कौन नहीं, इस प्रश्न के लिए कुछ भी स्थान नहीं है। जब तक शक्ति रहे, उत्साह रहे, आपत्ति काल में भी किसी प्रकार की ग्लानि का भाव न आए, धर्म एवं संघ पर किसी प्रकार का उपद्रव न हो, अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र की क्षति का कोई विशेष प्रसंग उपस्थित न हो, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना है, अपवाद मार्ग पर नहीं।

परन्तु, अपवाद मार्ग की स्थिति उत्सर्ग से भिन्न है। अपवाद मार्ग पर कभी कदाचित ही चला जाता है। अपवाद की धारा तलवार की धारा से भी कहीं अधिक तीक्ष्ण है। इस पर हर कोई साधक और वह भी हर किसी समय नहीं चल सकता। जो साधक गीतार्थ है, आचारांग आदि आचार संहिता का पूर्ण अध्ययन कर चुका है, निशीथ सूत्र आदि छेद सूत्रों के सूक्ष्मतम मर्म का भी ज्ञाता है, उत्सर्ग और अपवाद पदों का अध्ययन ही नहीं, अपितु स्पष्ट अनुभव रखता है, वही अपवाद के स्वीकार या परिहार के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय दे सकता है।

जिस व्यक्ति को देश का ज्ञान नहीं है कि यह देश कैसा है, यहाँ की क्या दशा है, यहाँ क्या उचित हो सकता है और क्या अनुचित, वह गीतार्थ नहीं हो सकता।

काल का ज्ञान भी आवश्यक है। एक काल में एक बात संगत हो सकती है, तो दूसरे काल में वही असंगत भी हो सकती है। क्या ग्रीष्म और वर्षा काल में पहनने योग्य हलके-फुलके वस्त्र शीतकाल में भी पहने जा सकते हैं? क्या शीतकाल के योग्य मोटे ऊनी कंबल जेठ की तपती दुपहरी में भी परिधान किए जा सकते हैं? यह एक लौकिक उदाहरण है। साधक के लिए भी अपनी व्रत-साधना के लिए काल की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का परिज्ञान अत्यावश्यक है।

व्यक्ति की स्थिति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दुर्बल और सबल व्यक्ति की तनुस्थिति और मनःस्थिति में अन्तर होता है। सबल व्यक्ति बहुत अधिक समय तक प्रतिकूल परिस्थिति से संघर्ष कर सकता है, जब कि दुर्बल व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। वह शीघ्र ही प्रतिकूलता के सम्मुख प्रतिरोध का साहस खो बैठता है। अतः साधना के क्षेत्र में व्यक्ति की स्थिति का ध्यान रखना भी आवश्यक है। देश और काल आदि की एकरूपता होने पर भी, विभिन्न

---

१८. सखुड्डग-वियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंड-ऽफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा।।
—दशवैकालिक, ६, ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तियों के लिए रुग्णता या स्वस्थता आदि के कारण स्थिति अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। यही बात व्यक्ति के लिए उपयुक्त द्रव्य की भी है। क्या मोटा ऊनी कंबल साधारणतया जेष्ठ मास में अनुपयुक्त होने पर भी, उसी समय में, ज्वर (पित्ती उछलने पर) की स्थिति में उपयुक्त नहीं हो जाता है? किंबहुना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के कारण विभिन्न स्थितियों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। उन सब स्थितियों का ज्ञान गीतार्थ के लिए आवश्यक है।[१९] जिस प्रकार चतुर व्यापारी आय और व्यय की भलीभाँति समीक्षा कर के व्यापार करता है, और अल्प व्यय से अधिक लाभ उठाता है, उसी प्रकार गीतार्थ भी अल्प दोष-सेवन से यदि ज्ञानादि गुणों का अधिक लाभ होता हो, तो वह उस कार्य को कर लेता है, और दूसरों को भी इसके लिए देशकालानुसार उचित निर्देशन कर सकता है।

गीतार्थ के लिए एक और महत्त्वपूर्ण बात है—यतना की। उत्सर्ग में तो यतना अपेक्षित है ही, किन्तु अपवाद में भी यतना की बहुत अधिक अपेक्षा है। अपवाद में जब कभी चालू परम्परा से भिन्न यदि किसी अकल्प्य विशेष के सेवन का प्रसंग आ जाए, तो वह यों ही विवेकमूढ़ होकर अंधे हाथी के समान नहीं होना चाहिए। अपवाद में विवेक की आँखें खुली रहनी आवश्यक हैं। उत्सर्ग की अपेक्षा भी अपवाद-काल में अधिक सजगता चाहिए। यदि यतना का भाव रहता है, तो अपवाद में स्खलना की आशंका नहीं रहती है। यतना के होते हुए उल्लुण्ठ वृत्ति कथमपि नहीं हो सकती।[२०] यतना अपने आप में वह अमृत है, जो दोष में भी गुण का आधान कर देता है। अकल्प्य सेवन में भी यदि यतना है, यतना का भाव है, तो इसका अर्थ है कि अकल्प्य-सेवन में भी संयम है। आखिर यतना और है क्या, संयम का ही तो दूसरा व्यवहारसिद्धरूप यतना है। अतः सच्चा गीतार्थ वह है, जो उत्सर्ग और अपवाद में सर्वत्र यतना का ध्यान रखता है। उसका दोष-वर्जन भी यतना के साथ होता है, और दोष-सेवन भी यतना के साथ। जीवन में सब ओर यतना का प्रकाश साधक को पथ-भ्रष्ट होने से पूर्णतः बचाए रखता है।

आचार्य भद्रबाहु और संघदास गणी ने गीतार्थ के गुणों का निरूपण करते हुए कहा है—"जो आय-व्यय, कारण-अकारण, आगाढ़ (ग्लान)-अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यक्-ज्ञान रखता है, और साथ ही कर्तव्य-कर्म का फल—परिणाम भी जानता है, वह विधिवेत्ता-गीतार्थ कहलाता है।"[२१]

अपवाद के सम्बन्ध में निर्णय देने का, स्वयं अपवाद सेवन करने और दूसरों से यथा-परिस्थिति अपवाद सेवन कराने का समस्त उत्तरदायित्व गीतार्थ पर रहता है। अगीतार्थ को स्वयं अपवाद के निर्णय का सहज अधिकार नहीं है। वह गीतार्थ के निरीक्षण तथा निर्देशन में ही यथावसर अपवाद मार्ग का अवलम्बन कर सकता है।

प्रस्तुत चर्चा में गीतार्थ को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता है? इसका एक-मात्र समाधान यह है कि कर्तव्य की चारुता और अचारुता, अथवा सिद्धि और असिद्धि, अन्ततः कर्ता पर ही आधार रखती है। यदि कर्ता अज्ञ है, कार्य-विधि से अनभिज्ञ है, तो देश, काल और साधन की हीनता के कारण अन्ततः कार्य की हानि ही होगी, सिद्धि नहीं। और

---

१९. संकादी-परिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ॥९५२॥—बृहत्कल्पकभाष्य, ९५२
वमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकं 'आयं' लाभं दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकल्प्यप्रतिसेवां समाचरति, नान्यथा।
—बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति,

२०. जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालिणी चेव।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा॥७६९॥
जयणाए वट्टमाणो जीवो, सम्मत्त-णाण-चरणाण।
सद्धा-बोहाऽऽसेवणभावेणाऽऽराहओ भणिओ॥७७०॥—उपदेशपद

२१. आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाइ॥९५१॥—बृहत्कल्प निर्युक्ति, भाष्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कर्ता विज्ञ है, कार्य-विधि का मर्मज्ञ है, तो वह देश, काल और साधनों के औचित्य का भली-भाँति ध्यान रखेगा, फलतः अपने अभिलषित कार्य में सफल ही होगा, असफल नहीं।[22]

अब एक प्रश्न और है कि आखिर गीतार्थ कहाँ तक साथ रह सकता है? कल्पना कीजिए, साधक ऐसी स्थिति में उलझ गया है कि वहाँ उसके लिए गीतार्थ का कोई भी निर्देशन प्राप्त करना असंभव है। उक्त विकट स्थिति में वह क्या करे, और क्या न करे? क्या वह अपनी नवागत स्थिति के अनुकूल परम्परागत स्थिति में कुछ योग्य फेर-फार नहीं कर सकता?

उत्तर है कि क्यों नहीं कर सकता। अन्ततोगत्वा साधक स्वयं ही अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार निर्णय कर सकता है कि वह कब उत्सर्ग पर चले और कब अपवाद पर? तत्त्वतः अपनी मति ही मति है, वही युक्त एवं अयुक्त की वास्तविक निर्णायिका है। यह ठीक है कि गीतार्थ गुरु, मूल आगम, भाष्य, चूर्णि और अन्य आचार ग्रन्थ, काफी लम्बी दूर तक साधक का निर्देशन करते हैं। परन्तु, अन्ततः साधक पर ही सब कुछ छोड़ना होता है, और वह छोड़ भी दिया जाता है। एक पिता अपने नन्हे शिशु को हाथ पकड़ कर चलाता है, चलना सिखाता है। परन्तु, कुछ समय बाद वह शिशु को उसकी अपनी शक्ति पर ही छोड़ देता है न? धर्म, आत्मा की साक्षी पर ही आधार रखता है। अन्त में अपने अन्तर्तम का भाव ही काम आता है! अस्तु, साधक जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हो वैसा करे, किन्तु सर्वत्र अपनी हार्दिक प्रामाणिकता और सत्याचरणता को अखण्ड रखे। जीवन में सत्य के प्रति उन्मुखता का रहना ही सब-कुछ है। कर्तव्य और अकर्तव्य, बाहर में कुछ नहीं है। इनका मूल अन्दर की मनोभूमि में है। वहाँ यदि पवित्रता है, तो सब पवित्र है, अन्यथा सब-कुछ अपवित्र है।

अपवाद दूषण नहीं, अपितु भूषण :

यद्यपि, उत्सर्ग, अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है, इस पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। फिर भी अपवाद के सम्बन्ध में सर्व साधारण की ओर से यह प्रश्न प्रायः खड़ा ही रहता है कि क्या उत्सर्ग को छोड़ कर अपवाद में जाने वाले साधक के स्वीकृत व्रतों का भंग नहीं होता? क्या इस दशा में साधक को पतित नहीं कहा जा सकता? यह प्रश्न व्रतों के बाह्याकार और उसके बाह्य भंग पर से खड़ा होता है। प्रायः जनता की आँखें बाह्य के स्थूल दृश्य पर ही अटक कर रह जाती है, किन्तु साधक स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी है, इतना सूक्ष्म कि जिसका आकार-प्रकार स्थूल से कहीं बड़ा है, बहुत बड़ा है। साधक के उसी सूक्ष्म अन्तर में उक्त प्रश्न का सही समाधान प्राप्त हो सकता है।

आचार्य संघदास गणी एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर समाधान उपस्थित करते हैं—"एक यात्री किसी अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति से चला जा रहा है। वह यथाशक्ति शीघ्र गति से दौड़ता है, ताकि शीघ्र ही गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाए। परन्तु चलता हुआ थक जाता है, आगे मार्ग की और अधिक विषमताओं के कारण चल नहीं पाता है, अतः वह बीच में कहीं विश्राम करने लग जाता है। यदि वह यात्री अपने अहं के कारण उचित विश्राम न करे, क्लान्त होने पर भी हठात् चलता ही रहे, तो स्वस्थ नहीं रह सकता। कुछ दूर जाकर, वह इतना अधिक क्लान्त हो जाएगा कि अवश्य ही मूर्च्छा खाकर गिर पड़ेगा। संभव है, प्राणान्त भी हो जाए। ऐसी स्थिति में, जिस लक्ष्य के लिए तन-तोड़ दौड़-धूप की जा रही थी, वह सदा के लिए अगम्य ही रह जाएगा। अस्तु, यात्री का विश्राम भी चलने के लिए ही होता है, बैठे रहने के लिए नहीं। वह विश्रान्ति लेकर, तरोताजा होकर पुनः दुगुने वेग से चलता है, बैठ जाने के फलस्वरूप होने वाले विलम्ब के समय को शीघ्र ही

---

२२. संपत्ति य विपत्ती य, होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प।
अणुवायतो विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥६४६॥—बृहत्कल्प भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरा कर लेता है और लक्ष्य पर पहुँच जाता है।[२३] अतः व्यवहार की भाषा में भले ही विश्रान्ति-कालीन स्थिति अगति हो, किन्तु निश्चय की भाषा में तो वह स्थिति भी गति ही है।

साधक सहज भाव से शास्त्रनिर्दिष्ट उत्सर्ग मार्ग पर चलता है, और **यावद् बुद्धि बलोदयं** उत्सर्ग मार्ग पर चलना भी चाहिए। परन्तु, कारणवशात् यदि कभी उसे उत्सर्ग मार्ग से अपवाद मार्ग पर आना पड़े, तो यह उसका तात्कालिक विश्राम होगा। यह विश्राम इसलिए लिया जाता है कि साधक अपने स्वीकृत पथ पर द्विगुणित वेग के साथ सोल्लास आगे बढ़ सके और अभीष्ट लक्ष्य पर ठीक समय पर पहुँच सके।

फलितार्थ यह है कि अपवाद उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही होता है, न कि ध्वंस के लिए। अपवाद काल में, यदि बाह्य दृष्टि से स्वीकृत व्रतों को यत्किंचित् क्षति पहुँचती भी है, तो वह मूलतः व्रतों की रक्षा के लिए ही होती है। जहरीले फोड़े से शरीर की रक्षा के लिए, आखिर शरीर के उस भाग का छेदन किया जाता ही है न? किन्तु, वह शरीर-छेदन शरीर की रक्षा के लिए ही है, नाश के लिए नहीं।

जीवन और मरण में सब मिलाकर अन्ततः जीवन ही महत्त्वपूर्ण है। '**जीवन्नरो भद्र-शतानि पश्येत्**' का स्वर्ण सूत्र आखिर एक सीमा में कुछ अर्थ रखता है। कल्पना कीजिए—साधक के समक्ष ऐसी समस्या उपस्थित है कि वह अपने व्रत पर अड़ा रहता है, तो जीवन जाता है और यदि जीवन की रक्षा करना चाहता है, तो गत्यन्तराभाव से स्वीकृत व्रतों का भंग होता है। ऐसी स्थिति में साधक क्या करे, और क्या न करे? क्या वह मर जाए? शास्त्रकार इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यदि अपने धर्म की रक्षा के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति हो, साधक में उत्साह हो, तरंग हो, तो वह प्रसन्न भाव से मृत्यु का आलिंगन कर सकता है। परन्तु यदि ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति न हो, मृत्यु की ओर जाने में समाधिभाव का भंग होता हो, जीवन के बचाव में कहीं अधिक धर्माराधन संभवित हो, तो साधक के लिए जीते रहना ही श्रेयस्कर है, भले ही जीवन के लिए स्वीकृत व्रतों में थोड़ा-बहुत फेर-फार भी क्यों न करना पड़े। यह केवल मेरी अपनी मति-कल्पना नहीं है। जैन जगत् के महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में कहते हैं कि "साधक को सर्वत्र सब प्रकार से अपने संयम की रक्षा करनी चाहिए। यदि कभी संयम का पालन करते हुए मरण होता हो, तो संयम-रक्षा को छोड़ कर अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिए। प्राणान्त काल में अपवाद-सेवन द्वारा जीवन की रक्षा करने वाला मुनि दोषों से रहित होता है, वह पुनः विशुद्धि प्राप्त कर सकता है। तत्त्वतः तो उसका व्रत-भंग होता ही नहीं है।[२४]

व्रत-भंग क्यों नहीं होता, प्रत्यक्ष में जब कि व्रत-भंग है ही? उक्त शंका का समाधान द्रोणाचार्य अपनी टीका में करते हैं कि—"अपवाद-सेवन करने वाले साधक के परिणाम विशुद्ध हैं। और विशुद्ध परिणाम मोक्ष का हेतु ही होता है, संसार का हेतु नहीं।"*

जैन-धर्म के सम्बन्ध में कुछ लोगों कि धारणा है कि वह जीवन से इकरार नहीं करता, अपितु इन्कार करता है। परन्तु, यदि तटस्थ दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो मालूम पड़ेगा कि वस्तुतः जैन-धर्म ऐसा नहीं है। वह जीवन से इन्कार नहीं करता, अपितु जीवन के मोह से इन्कार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्त्वपूर्ण लाभ है, और वह स्व-पर की हित-साधना में उपयोगी है, तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। आचार्य भद्रबाहु, अपने उक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में, देखिए, कितना तर्कपूर्ण समाधान करते हैं—

---

२३. धावंतो उव्वाओ, मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया, न कीरये असहुओ तिक्खं ॥३२०॥
—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका

२४. सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही न याऽविरई ॥४६॥—ओघनिर्युक्ति

* याऽविरई, किं कारणं? तस्याशयशुद्धतया, विशुद्धपरिणामस्य च मोक्षहेतुत्वात्।
—ओघनिर्युक्ति टीका, गा० ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"साधक का देह संयमहेतुक है, संयम के लिए है। यदि देह ही न रहा, तो फिर संयम कैसे रहेगा? अतएव संयम की साधना के लिए देह का परिपालन इष्ट है।"[२५]

यह वाणी आज के किसी भौतिकवादी की नहीं है, अपितु सुदूर अतीत युग के उस महान् अध्यात्मवादी की है, जो आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ साधक था। बात यह है कि अध्यात्मवाद कोई अंधा आदर्श नहीं है। वह आदर्श के साथ यथार्थ का भी उचित समन्वय करता है। उसके यहाँ एकान्त पक्षाग्रह-जैसी कोई बात नहीं है। मुख्य प्रश्न है—कारण और अकारण का। आचार्य जिनदास की भाषा में, साधक के लिए अकारण कुछ भी अकल्पनीय अनुज्ञात नहीं है, और सकारण कुछ भी अकल्पनीय निषिद्ध नहीं है।[२६]

यदि स्पष्ट शब्दों में निश्चयनय के माध्यम से कहा जाए तो, साधक, न जीवन के लिए है और न मरण के लिए है। वह तो अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि के लिए है। अतः जिस जिस प्रकार ज्ञानादि की सिद्धि एवं वृद्धि होती हो, उसे उसी प्रकार करते रहना चाहिए, इसी में संयम है।[२७] यदि, जीवन से ज्ञानादि की सिद्धि होती हो, तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए। और, यदि मरण से ही ज्ञानादि अभीष्ट की सिद्धि होती हो, तो मरण भी साधक के लिए शिरसा श्लाघनीय है।

उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी यही बात है। साधक, न केवल उत्सर्ग के लिए है और न केवल अपवाद के लिए है। वह दोनों के लिए है, मात्र शर्त है—साधक के ज्ञानादि गुणों की अभिवृद्धि होनी चाहिए। जीवन और मरण की कोई खास समस्या न भी हो, फिर भी यदि सन्मतितर्क आदि महान् दर्शन-प्रभावक ग्रन्थों का अध्ययन करना हो, चारित्र की रक्षा के लिए इधर-उधर सुदूर भू प्रदेश में क्षेत्र परिवर्तन करना हो, तब यदि गत्यन्तराभाव होने से अकल्पनीय आहारादि का सेवन कर लिया जाता है, तो वह शुद्ध ही माना जाता है, अशुद्ध नहीं। शुद्ध का अर्थ है, इस सम्बन्ध में साधक को कोई प्रायश्चित्त नहीं आता।*

कोई भी देख सकता है, जैन-धर्म आदर्शवादी होते हुए भी कितना यथार्थवादी धर्म है। उसके यहाँ बाह्य विधि-विधान हैं, और बहुत हैं, किन्तु वे सब किसी योग्य गृहपति के गृह की प्राचीर के समान हैं। साधक उनमें से अन्दर और बाहर यथेष्ट आ-जा सकता है। वे कोई कारागार की अनुल्लंघनीय प्राचीर नहीं है कि साधक उसके अन्दर बन्दी हो जाए, और कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, इधर-उधर अन्दर-बाहर आ-जा ही न सके।

जैन-धर्म भाव-प्रधान धर्म है। उसका अनुष्ठान, सर्वथा अपरिवर्तनीय जड़ अनुष्ठान नहीं, किन्तु क्रियाशील परिणामी चैतन्य अनुष्ठान है। मूल में जैन-परम्परा को बाह्य दृश्यमान विधि-विधानों का उतना आग्रह नहीं है, जितना कि अन्तरंग की शुद्ध भावनात्मक परिणति का आग्रह है। यही कारण है कि उसके दर्शनकक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बंधी-बँधाई नियत रूपरेखा नहीं है, इयत्ता नहीं है। जो भी संसार के हेतु हैं, वे सब सत्यनिष्ठ साधक के लिए मोक्ष

---

२५. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम-फाइनिमित्तं, देहपरिपालणा इट्ठा ॥४७॥—ओघनिर्युक्ति

२६. णिक्कारणे अकप्पणिज्जं न किं चि अणुण्णायं, अववायकारणे उप्पण्णे अकप्पणिज्जं ण किं चि पडिसिद्धं। निच्छयववहारतो एस तित्थकराणां।......कज्जंति अववादकारणं, तेण जति पडिसेवति तहा वि सच्चा भवति, सच्चो ति संजमो॥ -निशीथचूर्णि, ५२४८

२७. कज्जं णाणादीयं उस्सग्गववायओ भवे सच्चं।
तं तह समायरंतो, तं सफलं होइ सव्वं पि॥—निशीथभाष्य, ५२४९

२८. दंसणपभावगाणं, सद्धाणट्ठाए सेवती जं तु।
णाणे सुत्तत्थाणं, चरणेसण-इत्थिदोसा वा॥४८६॥

* दंसणपभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-सम्मतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवति, जयणाए तत्थ सो सुद्धो अपायच्छित्ती भवतीत्यर्थः।

णाणेति णाणणिमित्तं सुत्तं अत्थं वा गेण्हमाणो, तत्थ वि अकप्पियं असंथरे पडिसेवंतो सुद्धो।

चरणे त्ति जत्थ खेत्ते एसणादोसा इत्थिदोसा वा ततो खेत्तातो चारित्रार्थिना निर्गन्तव्यं, ततो निग्गच्छमाणो जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सुद्धो। —निशीथ चूर्णि, ४८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के हेतु हो जाते हैं। और, जो मोक्ष के हेतु हैं, वे सब संसाराभिनन्दी के लिए संसार के हेतु हो जाते है।[29] इसका अर्थ यह है कि त्रिभुवनोदरविवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने-आप में न मोक्ष के कारण हैं और न संसार के कारण। साधक की अपनी अन्तःस्थिति ही उन्हें अच्छे या बुरे का रूप देती है। साधक के अन्तर्तम में यदि शुद्ध भाव है, तो अंदर-बाहर सब शुद्ध हैं। और यदि, अशुद्ध भाव है, तो सब अशुद्ध हैं। अतः कर्म-बन्ध और कर्म-निर्जरा का मूल्यांकन बाहर से नहीं, अपितु अंदर से किया जाना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि बाहर कुछ नहीं है, जो कुछ है, अंदर ही है। मेरा कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि बाहर में सब-कुछ कर करा कर भी अन्ततः अंदर में ही अन्तिम मुहर लगती है। सावधान! बाहर के भावाभाव में कहीं अंदर के भावाभाव को न भूल जाएँ!

हाँ तो, अपवाद में व्रतभंग नहीं होता, संयम नष्ट नहीं होता, इसका एक मात्र कारण यह है कि अपवाद भी उत्सर्ग के समान ही अन्तर्तम की शुद्ध भावना पर आधारित है। बाहर में भले ही उत्सर्ग-जैसा उज्ज्वल रूप न हो, व्रत-भंग का मालिन्य ही हो, किन्तु अंदर में यदि साधक निर्मल रहा है, सावधान रहा है, ज्ञानादि सदगुणों की साधना के शुद्ध साध्य पर सुस्थित रहा है, तो वह शुद्ध ही है।

उत्सर्ग और अपवाद का तुल्यत्व :

शिष्य प्रश्न करता है—"भंते! उत्सर्ग अधिक हैं, या अपवाद अधिक हैं?"

प्रस्तुत प्रश्न का बृहत्कल्प भाष्य में समाधान किया गया है कि "जितने उत्सर्ग हैं, उतने ही उनके अपवाद भी होते हैं। और, जितने अपवाद होते हैं, उतने ही उनके उत्सर्ग भी होते हैं।"[30]

उक्त कथन से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि साधना के उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही अपरिहार्य अंग हैं। जिस प्रकार उन्नत से निम्न की और निम्न से उन्नत की प्रसिद्धि है, उसी प्रकार उत्सर्ग से अपवाद और अपवाद से उत्सर्ग प्रसिद्ध है, अर्थात् दोनों अन्योन्य प्रतिबद्ध हैं।[31] एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। अस्तु, ऐसा कोई उत्सर्ग नहीं, जिसका अपवाद न हो, और ऐसा कोई अपवाद भी नहीं, जिसका उत्सर्ग न हो। दोनों की कोई इयत्ता नहीं है, अर्थात अपने आप पर आधारित कोई स्वतंत्र संख्या नहीं है। दोनों तुल्य हैं, एक-दूसरे पर आधारित हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का बलाबल

शिष्य पृच्छा करता है—"भंते! उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में कौन श्रेय है और कौन अश्रेय? तथा, कौन सबल है और कौन निर्बल?"

इसका समाधान, बृहत्कल्प भाष्य में, इस प्रकार दिया गया है—

"उत्सर्ग अपने स्थान पर श्रेय एवं सबल है। और, अपवाद अपने स्थान पर श्रेय एवं

---

२९. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।—आचा० १, ४, २, १३०

यएवाश्रवाः कर्मबन्धस्थानानि, त एव परिश्रवाः कर्मनिर्ज्जरास्पदानि।—आचार्य शीलाङ्क

जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे।
गणणाईआ लोगा, दुण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला॥५३॥—ओघनिर्युक्ति

सर्व एव त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनो भावा रागद्वेषमोहात्मनां पुंसां संसारहेतवो भवन्ति, त एव रागादिरहितानां श्रद्धामतामज्ञानपरिहारेण मोक्षहेतवो भवन्तीति। —द्रोणाचार्य, ओघनिर्युक्ति टीका

३०. जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव॥३२२॥

३१. उन्नयमविक्ख निन्नस्स पसिद्धी उन्नयस्स निन्नाओ।
इय अन्नोन्नपसिद्धा, उस्सग्गऽववायओ तुल्ला॥३२१॥—बृहत्कल्प भाष्य-पीठिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबल है। इसके विपरीत उत्सर्ग के स्थान पर अपवाद अश्रेय एवं निर्बल है, और अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग अश्रेय एवं निर्बल है।"[32]

प्रत्येक जीवन क्षेत्र में स्व-स्थान का बड़ा महत्त्व है। स्व-स्थान में जो गुरुत्व है, वह पर-स्थान में कहाँ? मगर, जल में जितना शक्तिशाली है, क्या उतना स्थल भूमि में भी है? नहीं, मगर का श्रेय और बल दोनों ही स्व-स्थान जल में है। उसी प्रकार उत्सर्ग और अपवाद का श्रेय और बल भी अपेक्षाकृत है। उत्सर्ग के स्थान में उत्सर्ग और अपवाद के स्थान में अपवाद का प्रयोग ही जीवन के लिए हितकर है। यदि अज्ञानता अथवा दुराग्रह के कारण इनका विपरीत प्रयोग किया जाए, तो दोनों ही अहितकर हो जाते हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का स्व-स्थान और पर-स्थान :

शिष्य जिज्ञासा प्रस्तुत करता है—"भंते! उत्सर्ग और अपवाद में साधक के लिए स्व-स्थान कौन-सा है? और, पर-स्थान कौन-सा है?"

इस जिज्ञासा का सुन्दर समाधान बृहत्कल्प भाष्य में इस प्रकार दिया गया है—

"जो साधक स्वस्थ और समर्थ है, उसके लिए उत्सर्ग स्व-स्थान है, और अपवाद पर-स्थान है। किन्तु, जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है, उसके लिए अपवाद स्व-स्थान है, और उत्सर्ग पर-स्थान है।"[33]

देश, काल और परिस्थिति-वशात उत्सर्ग और अपवाद के स्थानों में यथाक्रम स्व-परत्व होता रहता है। इस पर से स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है, कि साधक जीवन में उत्सर्ग और अपवाद का समान भाव से यथा परिस्थिति आदान एवं अनादान करते रहना चाहिए।

परिणामी, अतिपरिणामी और अपरिणामी साधक :

जैन-धर्म की साधना न अति परिणामवाद को लेकर चलती है, और न अपरिणामवाद को लेकर ही चलती है। जो साधक परिणामी है, वही उत्सर्ग और अपवाद का मार्ग भली-भाँति समझ सकता है, और देशकालानुसार उनका उचित उपयोग भी कर सकता है। किन्तु, अति परिणामी और अपरिणामी साधक उत्सर्ग एवं अपवाद को समझने में असमर्थ रहते हैं, फलतः समय पर उनका पूर्ण औचित्य के साथ उपयोग न होने के कारण साधना-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में व्यवहार भाष्य और उसकी वृत्ति में एक बड़ा ही सुन्दर रूपक आया है—

एक आचार्य के तीन शिष्य थे। अपने आचार्यत्व का गुरुतर पद-भार किसको दिया जाये? अस्तु तीनों की परीक्षा के विचार से आचार्य ने एक-एक को पृथक-पृथक बुलाकर कहा—"मुझे आम्र ला कर दो।"

अतिपरिणामी, साथ में और भी बहुत-सी अकल्प्य वस्तु लाने की बात करता है।

अपरिणामी कहता है—"आम्र, साधु को कल्पता नहीं है। भला, मैं कैसे ला कर दूँ?"

परिणामी कहता है—"भंते! आम्र कितने ही प्रकार के होते हैं। क्या कारण है, और तदर्थ कौन-सा प्रकार अभीष्ट है, मुझे स्पष्ट प्रतिपत्ति चाहिए। और, यह भी बताएँ कि कितने लाऊँ? मात्रा का ज्ञान मेरे लिए आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि मैं गलती कर जाऊँ।"

आचार्य की परीक्षा में परिणामवादी उत्तीर्ण हो जाता है। क्योंकि वह उत्सर्ग और अपवाद की मर्यादा को भलीभाँति जानता है। वह अपरिणामी के समान गुरु की अवहेलना

---

३२. सट्ठाणे सट्ठाणे, सेया बलिणो य हुंति खलु एए।
सट्ठाण-परट्ठाणा, य हुंति वत्थूतो निप्फन्ना ॥३२३॥
—बृहत्कल्प भाष्य पीठिका

३३. संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ वत्थू-विणा किंचि ॥३२४॥—बृहत्कल्प भाष्य पीठिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी नहीं करता, और अतिपरिणामी की तरह कारणवश एक अकल्प्य वस्तु माँगने पर अन्य अनेक अकल्प्य वस्तु लाने को भी नहीं कहता। परिणामवादी ही जैन-साधकों का समुज्ज्वल प्रतिनिधि चित्र है। क्योंकि वह समय पर देश, काल आदि की परिस्थिति के अनुरूप अपने को ढाल सकता है। उसमें जहाँ संयम का जोश रहता है, वहाँ विवेक का होश भी रहता है।

अपरिणामी, उत्सर्ग से ही चिपटा रहेगा। और अतिपरिणामी अपवाद का भी दुरुपयोग करता रहेगा। किस समय पर और कितना परिवर्तन करना, यह उसे भान ही नहीं रहेगा। अपरिणामी, सर्वथा अपरिवर्तित क्रिया-जड़ होकर रहेगा, तो अतिपरिणामी, परिवर्तन के प्रवाह में बहता ही जाएगा, कहीं विराम ही न पा सकेगा। धर्म के रहस्य को, साधना के महत्त्व को परिणामी साधक ही सम्यक् प्रकार से जान सकता है, और तदनुरूप अपने जीवन को पवित्र एवं समुज्ज्वल बनाने का नित्य-निरंतर प्रयत्न कर सकता है।

अहिंसा का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है, कि वह मनसा, वाचा, कायेन किसी भी प्रकार के स्थूल एवं सूक्ष्म जीवों की हिंसा न करे। क्यों नहीं करे? इसके समाधान में दशवैकालिक सूत्र में भगवान ने कहा है—"जगती तल के समग्र जीव-जन्तु जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। क्योंकि सब को अपना जीवन प्रिय है। प्राणि वध घोर पाप है। इसलिए निर्ग्रन्थ भिक्षु, इस घोर पाप का परित्याग करते हैं।"[३४]

उपर्युक्त कथन, जैन-साधना-पथ में प्रथम अहिंसा महाव्रत का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, कुछ परिस्थितियों में इसका अपवाद भी होता है। वैसे तो अहिंसा के अपवादों की कोई इयत्ता नहीं है। तथापि वस्तु-स्थिति के यत्किंचित परिबोध के लिए प्राचीन आगमों तथा टीकाग्रन्थों में से कुछ उद्धरण उपस्थित किए जा रहे हैं।

भिक्षु के लिए हरित वनस्पति का परिभोग निषिद्ध है। यहाँ तक कि वह हरित वनस्पति का स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, इसका अपवाद मार्ग भी है। आचारांग सूत्र में कहा गया है, कि "एक भिक्षु, जो कि अन्य मार्ग के न होने पर किसी पर्वतादि के विषम-पथ से जा रहा है। यदि कदाचित् वह स्खलित होने लगे, गिरने लगे, तो अपने आप को गिरने से बचाने के लिए तरु को, गुच्छ को, गुल्म को, लता को, वल्ली को तथा तृण हरित आदि को पकड़ कर सँभलने का प्रयत्न करे।[३५]

भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग तो यह है, कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे। परन्तु, हरित वनस्पति को पकड़कर चढ़ने या उतरने में हिंसा होती है, यह अपवाद है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए, तो यह हिंसा भी हिंसा के लिए नहीं होती है, अपितु अहिंसा के लिए ही होती है। गिर जाने पर अंग-भंग हो सकता है, फिर आर्त-रौद्र दुर्ध्यान का संकल्प-विकल्प आ सकता है, दूसरे जीवों को भी गिरता हुआ हानि पहुँचा सकता है। अतः भविष्य की इस प्रकार स्व-पर हिंसा की लंबी शृंखला को ध्यान में रख कर यह अहिंसा का अपवाद है, जो मूल में अहिंसा के लिए ही है।

वर्षा बरसते समय भिक्षु अपने उपाश्रय से बाहर नहीं निकलता। क्योंकि जलीय जीवों की विराधना होती है, हिंसा होती है। पूर्ण अहिंसक भिक्षु के लिए सचित्त जल का स्पर्शमात्र भी निषिद्ध है। भिक्षु का यह मार्ग उत्सर्ग मार्ग है।

परन्तु, साथ में इसका यह अपवाद भी है, कि चाहे वर्षा बरस रही हो, तो भी भिक्षु

---

३४. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥—दशवैकालिक ६, ११

३५. से तत्थ पयलमाणे वा रुक्खाणि वा, गुच्छाणि वा, गुम्माणि वा, लयाओ वा, वल्लीओ वा, तणाणि वा, हरियाणि वा, अवलंबिय अवलंबिय उत्तरिज्जा......।
—आचारांग, २ श्रुत० ईर्याध्ययन, उद्देश २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चार (शौच) और प्रस्रवण (मूत्र) करने के लिए बाहर जा सकता है।[36] मलमूत्र का बलात निरोध करना, स्वास्थ्य और संयम दोनों ही दृष्टि से वर्जित है। मलमूत्र के निरोध में आकुलता रहती है, और जहाँ आकुलता है, वहाँ न स्वास्थ्य है, और न संयम।

वर्षा में बाहर-गमन के लिए केवल मलमूत्र का निरोध ही अपवादहेतु नहीं है, अपितु बाल, वृद्ध और ग्लानादि के लिए भिक्षार्थ जाना अत्यावश्यक हो, तब भी उचित यतना के साथ वर्षा में गमनागमन किया जा सकता है। योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख किया है।[37]

यही बात मार्ग में नदी-संतरण[38] तथा दुर्भिक्ष आदि में प्रलम्ब-ग्रहण सम्बन्धी[39] अपवादों के सम्बन्ध में भी है। ये सब अपवाद भी अहिंसा महाव्रत के हैं। जीवन, आखिर जीवन है, वह संयम की साधना में एक प्रमुख भाग रखता है। और, जीवन सचमुच वही है, जो शान्त हो, समाधिमय हो, निराकुल हो। अस्तु, उत्सर्ग में रहते यदि जीवन में समाधिभाव रहता हो, तो वह ठीक है। यदि किसी विशेष कारणवशात उत्सर्ग में समाधिभाव न रहता हो, अपवाद में ही रहता हो, तो अमुक सीमा तक वह भी ठीक है। अपने आप में उत्सर्ग और अपवाद मुख्य नहीं, समाधि मुख्य है। मार्ग कोई भी हो, अन्ततः समाधिरूप लक्ष्य की पूर्ति होनी चाहिए।

सत्य का उत्सर्ग और अपवाद :

सत्य भाषण, यह भिक्षु का उत्सर्ग-मार्ग है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—"मृषावाद—असत्य भाषण लोक में सर्वत्र समस्त महापुरुषों द्वारा निन्दित है। असत्य भाषण अविश्वास की भूमि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मृषावाद का सर्वथा त्याग करते हैं।"[40]

परन्तु, साथ में इसका अपवाद भी है। आचारांग सूत्र में वर्णन आता है, कि एक भिक्षु मार्ग में जा रहा है। सामने से व्याध आदि कोई व्यक्ति आए और पूछे कि—"आयुष्मन् श्रमण! क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर से आते-जाते देखा है?" इस प्रकार के प्रसंग पर प्रथम तो भिक्षु उसके वचनों की उपेक्षा करके मौन रहे। यदि मौन न रहने-जैसी स्थिति हो, या मौन रहने का फलितार्थ स्वीकृति-सूचक जैसा हो, तो "जानता हुआ भी यह कह दे, कि मैं नहीं जानता।"[41]

यहाँ पर असत्य बोलने का स्पष्ट उल्लेख है। यह भिक्षु का अपवाद मार्ग है। इस प्रकार के प्रसंग पर असत्य भाषण भी पापरूप नहीं है। निशीथचूर्णि में भी आचारांग सूत्र का उपर्युक्त कथन समुद्धृत है।[42]

---

३६. इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्।—आचारांग वृत्ति २, १, १, ३, २०
वच्चा-मुत्तं न धारए।—दशवैकालिक अ० ५, गा० १६
उच्चार-प्रश्रवणादिपीडितानां कम्बलावृतदेहानां गच्छतामपि न तथाविधा विराधना।
—योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, ३ प्रकाश, ८७ श्लोक

३७. बाल-वृद्ध-ग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षार्थं निःसरतां कम्बलावृतदेहानां न तथाविधाप्काय विराधना। —योगशास्त्र, स्वोपज्ञ वृत्ति ३, ८७

३८. तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा। —आचारांग २, १, ३, २, १२२

३९. एवं अद्धाणादिसु, पलंबगहणं कया वि होज्जाहि।—निशीथ भाष्य, गा० ४८७६

४०. मुसावाओ य लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥—दशवैकालिक, ६ गा० १३

४१. "तुसिणीए उवेहेज्जा, जाणं वा नो जाणंति वएज्जा।"—आचारांग २, १, ३, ३, १२६
भिक्षोर्गच्छतः कश्चित् संमुखीन एतद् ब्रूयात्-आयुष्मन् श्रमण! भवता पथ्यागच्छता कश्चिद् मनुष्यादिरुपलब्धः? तं चैवं पृच्छन्तं तूष्णीभावेनोपेक्षेत, यदि वा जानन्नपि नाहं जानामि, इत्येवं वदेत्।
—आचार्य शीलांक की टीका

४२. "संजमहेउं ति" जइ केइ लुद्धगादी पुच्छंति—'कतो एत्थ भगवं दिट्ठा मिगादी?'......ताहे दिट्ठेसु वि वत्तव्वं—ण वि "पासे" त्ति दिट्ठ त्ति वृत्तं भवति। —निशीथ चूर्णि, भाष्यगाथा ३२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र में भी यही अपवाद आया है। वहाँ कहा गया है—

"जो मृषावाद मायापूर्वक दूसरों को ठगने के लिए बोला जाता है, वह हेय है, त्याज्य है।"[४३]

आचार्य शीलांक ने उक्त सूत्र का फलितार्थ निकालते हुए स्पष्ट कहा है—"जो परवञ्चना की बुद्धि से रहित मात्र संयम-गुप्ति के लिए कल्याण भावना से बोला जाता है, वह असत्य दोषरूप नहीं है, पाप-रूप नहीं है।"[४४]

अस्तेय का उत्सर्ग और अपवाद :

उत्सर्ग मार्ग में भिक्षु के लिए घास का एक तिनका भी अग्राह्य है, यदि वह स्वामी-द्वारा अदत्त हो तो। कितना कठोर व्रत है। अदत्तादान न स्वयं ग्रहण करना, न दूसरों से ग्रहण करवाना और न अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन ही करना।"[४५]

परन्तु, परिस्थिति विकट है, अच्छे-से-अच्छे साधक को भी आखिर कभी झुक जाना पड़ता ही है। कल्पना कीजिए, भिक्षु-संघ लंबा विहार कर किसी अज्ञात गाँव में पहुंचता है, स्थान नहीं मिल रहा है, बाहर वृक्षों के नीचे ठहरते हैं, तो भयंकर शीत है, अथवा जंगली हिंसक पशुओं का उपद्रव है। ऐसी स्थिति में शास्त्राज्ञा है कि "बिना आज्ञा लिए ही योग्य स्थान पर ठहर जाएँ और ठहरने के पश्चात् आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करें।"[४६]

ब्रह्मचर्य का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है, कि वह अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए एक दिन की नवजात कन्या का भी स्पर्श नहीं करता।

परन्तु, अपवाद रूप में वह नदी में डूबती हुई अथवा क्षिप्तचित्त आदि भिक्षुणी को पकड़ भी सकता है।[४७]

इसी प्रकार यदि रात्रि आदि में सर्पदंश की स्थिति हो, और अन्य कोई उपचार का मार्ग न हो, तो साधु स्त्री से और साध्वी पुरुष से अवमार्जन आदि स्पर्श-सम्बन्धित चिकित्सा कराए, तो वह कल्प्य है। उक्त अपवाद में कोई प्रायश्चित्त नहीं है—'**परिहारं च से न पाउणइ**।'[४८]

साधु या साध्वी के पैर में काँटा लग जाए, अन्य किसी भी तरह निकालने की स्थिति न हो, तो परस्पर एक-दूसरे से निकलवा सकते हैं।[४९]

कथित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि साधक-जीवन में जितना महत्त्व उत्सर्ग का है, अपवाद का भी उतना ही महत्त्व है। उत्सर्ग और अपवाद में से किसी का भी एकान्ततः न ग्रहण है, न परित्याग। दोनों ही यथाकाल धर्म हैं, ग्राह्य हैं। दोनों के

---

४३. "सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ।"—सूत्र कृतांग, १, ८, १९

४४. यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिह्रियते।
यस्तु संयमगुप्त्यर्थं "न मया मृगा उपलब्धा" इत्यादिकः स न दोषाय।
—सूत्रकृतांग वृत्ति १, ८, १९

४५. चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया॥—दशवैकालिक, ६, १४

४६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए। अह पुण जाणेज्जा—इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा नो सुलभे पाडिहारिए सेज्जासंथारए त्ति कट्टु एवं ण्हं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए। 'मा वहउ अज्जो', वइ-अणुलोमेणं अणुलोमेयव्वे सिया।
—व्यवहारसूत्र ८, ११।

४७. बृहत्कल्प सूत्र उ० ६ सू० ७-१२ और स्थानांग सूत्र, षष्ठ स्थान

४८. व्यवहार सूत्र उ० ५ सू० २१

४९. बृहत्कल्प सूत्र उ० ६ सू० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुमेल से जीवन स्थिर बनता है। एक समर्थ आचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है, कि "किसी एक देश और काल में एक वस्तु अधर्म है, तो वही तदभिन्न देश और काल में धर्म भी हो सकती है।"[50]

अपरिग्रह का उत्सर्ग और अपवाद :

उत्सर्ग स्थिति में साधु के लिए पात्र आदि धर्मोपकरण, जिनकी संख्या १४ बताई है,[51] ग्राह्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सब परिग्रह हैं। और, परिग्रह भिक्षु के लिए सर्वथा वर्ज्य है।[52]

परन्तु अपवादीय स्थिति की गंभीरता भी कुछ कम नहीं है। जब कोई भिक्षु स्थविर-भूमि-प्राप्त स्थविर हो जाता है, तो वह छलक, चर्मछेदनक आदि अतिरिक्त उपधि भी आवश्यकतानुसार रख सकता है।[53]

आचारांग सूत्र में समर्थ तथा तरुण भिक्षु को एक पात्र ही रखने की आज्ञा है,[54] अतएव प्राचीन काल का मात्रक, तथैव आज कल के तीन या चार पात्र अपवाद ही हैं।

निशीथ चूर्णिकार ने ग्लानादि कारण से ऋतुबद्ध एवं वर्षाकाल के उपरान्त एक स्थान पर अधिक ठहरे रहने को भी परिग्रह का कालकृत अपवाद ही माना है।[55]

यदि कोई भिक्षु विषग्रस्त हो जाए, तो विष निवारण के लिए, सुवर्ण घिसकर उसका पानी विष-रोगी को देने का भी वर्णन है। यह सुवर्ण-ग्रहण भी अपरिग्रह का अपवाद है।[56]

भिक्षु को यथाशास्त्र निर्दिष्ट पात्र ही रखने चाहिएँ, यदि अधिक रखता है, तो वह परिग्रह है। परन्तु दूसरों के लिए सेवाभाव की दृष्टि से अतिरिक्त पात्र रख भी सकता है।[57]

पुस्तक, शास्त्र वष्टन, लेखनी, कागज, मसि, आदि भी परिग्रह ही है, क्योंकि ये सब भिक्षु के धर्मोपकरण में परिगणित नहीं हैं। परन्तु, चिरकाल से ज्ञान के साधन रूप में अपरिग्रह का अपवाद मान कर इनका ग्रहण होता रहा है और हो रहा है।

गृह-निषद्या का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु, गृहस्थ के घर पर नहीं बैठ सकता, यह उत्सर्ग-मार्ग है। प्रत्येक भिक्षु को इस नियम का कठोरता के साथ पालन करना होता है।[58]

परन्तु जो भिक्षु जराभिभूत वृद्ध है, रोगी है, अथवा तपस्वी है, वह गृहस्थ के घर बैठ सकता है।[59] वह गृहनिषद्या के दोष का भागी नहीं होता।

---

५०. यस्मिन् देशे काल, यो धर्मो भवति। स एव निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवत्येव।।

५१. प्रश्न व्याकरण, संवर द्वार, अपरिग्रह निरूपण

५२. दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन, पंचम महाव्रत

५३. व्यवहार सूत्र ८, ५

५४. तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धरेज्जा, नो बिइयं
—आचा० २, १, ६, १, १

५५. गिलाणो सो विहरिउमसमत्थो, उउबद्धं वासियं वा अइरित्तं वसेज्जा।
गिलाणपडियरगा वा ग्लानप्रतिबद्धत्वात् अतिरित्तं वसेज्जा।—निशीथ चूर्णि, भाष्य ४०४

५६. विषग्रस्तस्य सुवर्णं कनकं तं घेत्तु घसिऊण विषणिग्घायणट्ठा तस्स पाणं दिज्जति,
अतो गिलाणट्ठा ओरालियग्रहणं भवेज्ज। —निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा ३६४

५७. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइरेगपडिग्गहं अन्नमन्नस्स अट्ठाए धारेत्तए, परिग्गहित्तए वा......
—व्यवहार सूत्र ८, १५

५८. गिहन्तरनिसेज्जा य...... —दश० ३, ४। दश० ८, ८

५९. तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूयस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो।।—दशवैकालिक ६, ६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधाकर्म आहार का उत्सर्ग और अपवाद :

उत्सर्ग मार्ग में आधाकर्मिक आहार भिक्षु के लिए अभक्ष्य कहा गया है।[60] वह भिक्षु की कल्प-मर्यादा में नहीं है। परन्तु, कारणवशात अपवाद मार्ग में वह आधाकर्म आहार भी अभक्ष्य नहीं रहता।

सूत्रकृतांग सूत्र का अभिप्राय है, कि पुष्टालंबन की स्थिति में आधाकर्मिक आहार ग्रहण करने वाले भिक्षु को एकान्त पापी कहना भूल है। उसे एकान्त पापी नहीं कहा जा सकता।[61]

आचार्य शीलांक, उक्त सूत्र पर विवेचन करते हुए स्पष्ट लिखते हैं कि—

"अपवाद दशा में श्रुतोपदेशानुसार आधा-कर्म आहार का सेवन करता हुआ भी साधक शुद्ध है, कर्म से लिप्त नहीं होता है। अतः एकान्त रूप में यह कहना कि आधा-कर्म से कर्म-बन्ध होता ही है, ठीक नहीं है।"[62]

निशीथ भाष्य में भी दुर्भिक्ष आदि विशेष अपवाद के प्रसंग पर आधाकर्म आहार ग्राह्य बताया गया है।"[63]

संथारे में आहार ग्रहण का अपवाद :

किसी भिक्षु ने भक्त प्रत्याख्यान (संथारा) कर लिया है अर्थात आहार-ग्रहण का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है। शिष्य प्रश्न करता है—"भंते! कदाचित उस भिक्षु को क्षुधा सहन न कर सकने के कारण उत्कट असमाधिभाव हो जाए, और वह भक्त-पान मांगने लगे, तो उसे देना चाहिए, कि नहीं?"

व्यवहार भाष्य वृत्ति में इस का सुन्दर समाधान दिया गया है। आचार्य मलयगिरि कहते हैं—"भिक्षु को असमाधि भाव हो आने पर यदि वह स्थिरचित्त न रहे और भक्त-पान मांगने लगे, तो उसे भक्त-पान अवश्य दे देना चाहिए। क्योंकि उसके प्राणों की रक्षा के लिए आहार कवच है।"[64]

शिष्य पूछता है, कि—"त्याग कर देने पर भी भक्त-पान क्यों देना चाहिए?"[65] आचार्य कहते हैं—

"भिक्षु की साधना का लक्ष्य है, कि वह परीषह की सेना को मनःशक्ति से, वचः शक्ति से और काय-शक्ति से जीते। परीषह सेना के साथ युद्ध वह तभी कर सकता है, जब कि समाधि-भाव रहे। और भक्त-पान के बिना समाधि भाव नहीं रह सकता है। अतः उसे कवच-भूत आहार देना चाहिए।"[66]

---

६०. जे भिक्खू आहाकम्मं भुंजइ, भुजंतं वा सातिज्जइ।—निशीथ सूत्र १०, ६

६१. अहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्ते ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो ॥८॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥९॥ —सूत्रकृतांग, २, ५

६२. आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुञ्जानः कर्मणा नोपलिप्यते। तदाधाकर्मोप-भोगेनावश्यकर्मबन्धो भवति, इत्येवं नो वदेत्।

६३. असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।—टीका
अद्धाण रोहए वा, धिंति पडुच्चा व आहारे ॥—निशीथ भाष्य, गाथा २६८४

६४. अशने पानके च याचिते, तस्य भक्तपानात्मकः कवचभूत आहारो दातव्यः।
—व्यवहार भाष्य वृत्ति उ० १० गा० ५३३

६५. अथ किं कारणं, प्रत्याख्याय पुनराहारो दीयते?

६६. हंदि परीसहचमू, जोहेयव्वा मणेण काएण।
तो मरण-देसकाले कवयभूओ उ आहारो ॥—व्यवहार भाष्य, उ० १० गा० ५३४
परीषह सेना मनसा कायेन (वाचा च) योधेन जेतव्या। तस्याः पराजयनिमित्तं मरण देशकाले (मरण समये) योधस्य कवचभूत आहारो दीयते।—व्यवहार भाष्य वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य प्रश्न करता है—"भंते ! संथारा करने वाले भिक्षु के द्वारा भक्त-पान ग्रहण कर लेने पर यदि कोई आग्रही निन्दा करे, तो क्या होता है ?"

आचार्य कहते हैं—"जो उसकी निन्दा करता है, जो उसकी भर्त्सना करता है, उसको चार मास का गुरु प्रायश्चित्त आता है।"[६७]

पशुओं के बन्धन-मोचन का उत्सर्ग और अपवाद :

भिक्षु आत्म-साधना में एक धारा से सतत निरत रहनेवाला साधक है। वह गृहस्थ के संसारी कार्यों में किसी प्रकार का भी न भाग लेता है, और न उसे ठीक ही समझता है। वह गृहस्थ के घर पर रहकर भी जल में कमल के समान सर्वथा निर्लिप्त रहता है। अतएव भिक्षु को गृहस्थ के यहाँ बछड़े आदि पशुओं को न बाँधना चाहिए और न खोलना चाहिए। यह उत्सर्ग मार्ग है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भिक्षु की साधना एक चेतना-शून्य जड़ साधना है। अतः कैसी भी दुर्घटना हो, वह अनुकम्पाहीन पत्थर की मूरत बन कर बैठा रहेगा। कल्पना कीजिए—आग लग जाए, बाढ़ का पानी चढ़ आए, वृकादि हिंसक पशु आक्रमण करने वाले हों, अथवा अन्य कोई विषम स्थिति हो, तो क्या किया जाए ? क्या इस स्थिति में भी पशुओं को सुरक्षित एकान्त स्थान में न बाँधे, उन्हें यों ही अनियंत्रित घूमने दे और मरने दे ? नहीं, निशीथ-भाष्यकार के शब्दों में शास्त्राज्ञा है कि उक्त अपवादपरक स्थितियों में पशुओं को सुरक्षा के लिए बाँधा जा सकता है।[६८]

जो दृष्टि बाँधने के सम्बन्ध में है, वही खोलने के सम्बन्ध में भी है। गृहस्थ के प्रति चापलूसी का दीन भाव रख कर कि वह मुझ पर प्रसन्न रहेगा, फलस्वरूप मन लगा कर सेवा करेगा, गृहस्थ का कोई भी संसारी कार्य न करे। परन्तु, यदि पशु आग लगने पर जलने जैसी स्थिति में हों, गाढ़ बन्धन के कारण छटपटा रहे हों, तो सुरक्षा के लिए पशुओं को खोल भी सकता है।[६९] यह अपवाद-मार्ग है, जो अनुकम्पा-भाव से विशेष परिस्थिति में अपनाया जा सकता है।

अतिचार और अपवाद का अन्तर :

अतिचार और अपवाद का अन्तर समझने जैसा है। बाह्य रूप में अपवाद भी अतिचार ही प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार अतिचार में दोष-सेवन होता है, वैसा ही अपवाद में भी होता है, अतः बहिरंग में नहीं पता चलता कि अतिचार और अपवाद में ऐसा क्या अन्तर है कि एक त्याज्य है, तो दूसरा ग्राह्य है।

अतिचार और अपवाद का बाहर में भले ही एक-जैसा रूप हो, परन्तु दोनों की पृष्ठ-भूमि में बहुत बड़ा अन्तर है। अतिचार कुमार्ग है, तो अपवाद सुमार्ग है। अतिचार अधर्म है, तो अपवाद धर्म है। अतिचार संसार का हेतु है, तो अपवाद मोक्ष का हेतु है।

---

६७. यस्तु तं भक्तपरिज्ञाव्याघातवन्तं खिसति। (भक्तप्रत्याख्यान प्रतिभग्न एष इति) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुकाः।—व्यवहार भाष्य वृत्ति १० उद्देश, गा० ५५१

६८. बितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमऽगड अगणि आऊ, सणप्फगादीसु जाणमवि ॥३९८३॥—निशीथ भाष्य

विसमा अगड अगणि आऊसु मरिज्जिहिति त्ति, वृगादिसणप्फएण वा मा खिज्जिहि त्ति, एवं जाणगो वि बंधइ।—निशीथचूर्णि

६९. बितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, बलिपासग-अगणिमादीसु ॥३९८४॥—निशीथ भाष्य

बलिपासगो त्ति बंधणो, तेण अईव गाढं बद्धो मुढो वा तडप्फडेइ, मरइ वा जया, तया मुंचई। अगणि त्ति पलीवणगे बद्धं मुंचेइ, मा डज्झिहिति।—निशीथ चूर्णि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल बात यह है कि अतिचार के मूल में दर्प रहता है, मोहोदय का भाव रहता है।[70] क्रोधादि कषायभाव से, वासना से, संसार सुख की कामना से बिना किसी पुष्टालम्बन के, उत्सर्ग संयम का परित्याग कर जो विपरीत आचरण किया जाता है, वह अतिचार है। अतिचार से संयम दूषित होता है, अतः वह त्याज्य है। यदि मोहोदय के कारण कभी अतिचार का सेवन हो भी जाता है, तो प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि करनी होती है। अन्यथा, भिक्षु विराधक हो जाता है, और पथभ्रष्ट होकर संसार-कान्तार में भटक जाता है।

अब रहा अपवाद। इसके सम्बन्ध में पहले भी काफी प्रकाश डाला जा चुका है। "यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूँगा, तो मेरे ज्ञानादि गुणों की अभिवृद्धि न होगी"—इस विचार से ज्ञानादि के योग्य सन्धान के लिए जो प्रतिसेवना की जाती है, वह सालम्ब सेवना है।[71] और यही अपवाद का प्राण है। अपवाद के मूल में ज्ञानादि सद्गुणों के अर्जन तथा संरक्षण की पवित्र भावना ही प्रमुख है।

निशीथ भाष्यकार ने ज्ञानादि-साधना के सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अंध गर्त में पड़ा हुआ मनुष्य लताओं का अवलम्बन कर बाहर तट पर आ जाता है, अपनी रक्षा कर लेता है, उसी प्रकार संसार गर्त में पड़ा हुआ साधक भी ज्ञानादि का अवलम्बन कर मोक्ष तट पर चढ़ आता है, सदा के लिए जन्म-मरण के कष्टों से निजात्मा की रक्षा कर लेता है।[72]

अतः उत्सर्ग के समान अपवाद भी संयम है, अतिचार नहीं। कषाय-भाव से प्रेरित प्रवृत्ति अतिचार है, तो संयम-भाव से प्रेरित वही प्रवृत्ति अपवाद है। अतएव अतिचार कर्म-बन्ध का जनक है, तो अपवाद कर्म-क्षय का कारण है।[73] बाहर में स्थूल दृष्टि से एकरूपता होते हुए भी, अन्दर में अन्तर है, आकाश-पाताल जैसा महान् अन्तर है। एक भगवान् की आज्ञा में है, तो दूसरा भगवान् की आज्ञा से बाहर है। पुष्टालम्बन वह अद्भुत् रसायन है, जो अकल्प को भी कल्प बना देती है, अतिचार को भी आचार का सुरूप दे देती है।

उपसंहार :

उत्सर्ग और अपवाद छेद सूत्रों का मर्मस्थल है। अतएव भाष्यों, चूर्णियों तथा तत्सम्बन्धित अन्य आचार ग्रन्थों में प्रस्तुत विषय पर इतना अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है कि यह क्षुद्र निबन्ध समुद्र में की एक नन्हीं बूंद जैसा लगता है, वस्तुतः बूंद भी नहीं।

---

७०. प्रतिसेवना के दो रूप हैं—दर्पिका और कल्पिका। बिना पुष्टालम्बनरूप कारण के की जाने वाली प्रतिसेवना दर्पिका है, और वह अतिचार है। तथा विशेष कारण की स्थिति में की जाने वाली प्रतिसेवना कल्पिका है, जो अपवाद है और वह भिक्षु का कल्प है—आचार है।

या कारणमन्तरेण प्रतिसेवना क्रियते सा दर्पिका, या पुनः कारणे सा कल्पिका।

—व्यवहार भाष्य वृत्ति उ० १० गा० ३८

७१. णाणादी परिवुड्ढी, ण भविस्सति मे असेवते बितियं,
तेसिं पसंधणट्ठा, सालंबणिसेवणा एसा ॥४६६॥—निशीथ भाष्य

७२. संसार गड्ड-पडितो, णाणादवलंबितुं समारुहति।
मोक्खतडं जध पुरिसो, बल्लिवितारणेण विसमा उ ॥४६५॥

—निशीथ भाष्य

७३. अन्ना वि हु पडिसेवा, सा उ न कम्मोदएण जा जयता।
सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाऽजय कम्मजणणी उ ॥—व्यवहार भाष्य, उ० १, ४२

या कारणे यतमानस्य यतनया प्रवर्तमानस्य प्रतिसेवना,
सा कर्मक्षयकरणी। सूत्रोक्तनीत्या कारणे यतनया
यतमानस्य ततस्तत्राज्ञाराधनात्।

—व्यवहार भाष्य—वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी यथा मति, यथा गति कुछ लिखा गया है, और वह जिज्ञासु की ज्ञान-पिपासा के लिए एक जल कण ही सही, किन्तु कुछ है तो सही।

प्रस्तुत निबन्ध का अक्षर-शरीर कुछ पुरानी और कुछ नयी विचार सामग्री के आधार पर निर्मित हुआ है, और वह भी चिन्तन के एक आसन पर नहीं। बीच-बीच में विक्षेप-पर-विक्षेप आते रहे, शरीर-सम्बन्धी और समाज-सम्बन्धी भी। अतः लखन में यत्र-तत्र पुनरुक्ति की झलक आती है। परन्तु, वह जहाँ दूषण है, वहाँ भूषण भी है। उत्सर्ग और अपवाद जैसे गहनातिगहन विषय की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए पुनरुक्तता का भी अपने में एक उपयोग है, और वह कभी-कभी आवश्यक हो जाता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org